१३

धर्म का उद्देश्य क्या है ?

एक बहुत ही पेचीदा और बहुत ही उलझा हुआ प्रश्न है कि जीवन और धर्म एक-दूसरे से पृथक् हैं या दोनों का केन्द्र एक ही है ? यह प्रश्न आज का नहीं, अनादि-काल का है। साधना के क्षेत्र में बढ़ने वाले हर गुरु और हर शिष्य के सामने यह प्रश्न आया है। इस प्रश्न ने अनेक चिन्तकों के मस्तिष्कों को झकझोरा है कि जीवन और धर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

जिस प्रकार यह प्रश्न अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी प्रकार इसका उत्तर भी अनादिकाल से दिया जाता रहा है। हर गुरु, हर आचार्य और हर तीर्थंकर के सामने यह समस्या आई है कि जीवन और धर्म का क्या सम्बन्ध है ? और, सभी ने अपनी ओर से इसका समुचित समाधान दिया है। उन्होंने बतलाया है कि जहाँ द्रव्य है, वहीं उसका स्वभाव भी है, जहाँ अग्नि है, वहीं उसका गुण—उष्णता भी है। जीवन चैतन्य स्वरूप है, धर्म उसका स्वभाव है, तो फिर दोनों को पृथक्-पृथक् किस प्रकार किया जा सकता है ? जहाँ साधक है, जहाँ साधक की निर्मल चेतना की ज्योति जगमगाती है, वहीं धर्म का प्रकाश भी जगमगाता रहता है। इस प्रकार जीवन और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

धर्म खिलौना नहीं है :

जब-जब धर्म का स्वरूप बदला है, उसे किसी विशेष प्रकार की वेषभूषा, क्रियाकाण्ड और परंपराओं से बाँधकर अलग रूप देने का प्रयास किया गया है, तब-तब उसे एक अमुक सीमित काल की चीज करार देकर पुकारने का प्रयत्न भी हुआ है। कुछ समय से धर्म को एक ऐसा रूप दिया गया कि वह जीवन से अलग पड़ने लगा। स्थिति यहाँ तक बन गई कि जिस प्रकार छोटा बच्चा किसी खिलौने से घड़ी-दो घड़ी खेलता रहता है, और फिर उस खिलौने को पटक देता है, खिलौना टूटफूट जाता है और वह चल देता है। उसी प्रकार आज लोगों की, धर्म के सम्बन्ध में भी यही मनोवृत्ति बन रही है। वे धर्म की अमुक प्रकार की क्रियाओं को—सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, पूजापाठ आदि को घड़ी-दो घड़ी के लिए अपनाते हैं, कुछ थके-से और कुछ अलसाये-से क्रियाकाण्ड के रूप में धर्म के खिलौने से खेल लेते हैं और फिर इस कदर लापरवाही से पटक कर चल देते हैं कि धर्म से कोई वास्ता नहीं रखते। उन्हें फिर धर्म की कोई खबर नहीं रहती। इस प्रकार धर्म को दो-चार घड़ी की चीज मान लेने पर वह जीवन से भिन्न ही क्षेत्र की वस्तु बन गया। दैनिक जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं रहा और वह धर्म टुकड़ों में विभक्त हो गया। साधना की धारा, जो सतत अखण्ड प्रवाहित होनी चाहिए थी, वह अमुक देश, काल और परम्पराओं से बँधकर अवरुद्ध एवं क्षीण हो गई। जो धर्म जीवन का स्वामी था, वह अबोध मानव के हाथ का खिलौना मात्र बन कर रह गया, घड़ी-दो घड़ी के मनोरंजन की वस्तु बन गया। इस प्रकार धर्म की खण्डित-धारा जीवन में रस और आनन्द की लहर कैसे पैदा कर सकती है।

धर्म की फलश्रुति :

कुछ लोगों ने धर्म को इस जीवन की ही वस्तु समझा। उन्होंने ऐश्वर्य, भोग और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिक आनन्द को ही धर्म के रूप में देखा। सुखवादी दृष्टिकोण को लेकर वे जीवन के क्षेत्र में उतरे और इस लोक की भौतिक सिद्धियों के क्षुद्र घेरे के भीतर ही भीतर घूमते रहे। धर्म की अनन्त सत्ता को उन्होंने क्षुद्र शरीर से बाँध लिया और उसी एकांगी धर्म की चर्या में वे आये दिन परस्पर लड़ने-झगड़ने भी लगे। इस प्रकार धर्म का वास्तविक अन्तरंग रूप उनकी दृष्टि से ओझल होता गया और एक दिन शरीर से साँस की झंकार के समाप्त होते ही समाप्त हो गया।

कुछ लोग धर्म का सम्बन्ध परलोक से जोड़ते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि धर्म का प्रतिफल इस जीवन में नहीं, परलोक में है। यहाँ पर यदि तपस्या करोगे, तो आगे स्वर्ग मिलेगा, यहाँ पर दान करोगे तो आगे धन की प्राप्ति होगी। यहाँ पर हम जो भी कुछ धर्माचरण कर रहे हैं, उन सबका फल मरने के बाद परलोक में मिलेगा। यानि दाम पहले दें और माल बाद में। इस प्रकार क्षमा, दया, अहिंसा, त्याग, सेवा, परोपकार आदि समग्र साधना का फल वर्तमान जीवन में न मानकर मृत्यु के बाद मान लिया गया।

वास्तव में सच्चाई यह है कि धर्म का संस्कार जागृत होते ही उसका प्रतिबिम्ब जीवन में झलकना चाहिए। यदि धर्माचरण की फलश्रुति एकान्त परलोक पर छोड़ दी जाती है, तो धर्म की तेजस्विता ही समाप्त हो जाती है। धर्म का दीपक आज यहाँ जलाएँ और उसका प्रकाश परलोक में प्राप्त हो, यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार तो कार्य और कारण का सिद्धान्त ही गलत हो जाएगा। ऐसा नहीं हो सकता कि कारण तो आज हो और उसका कार्य हजारों वर्ष बाद में सम्पन्न हो। इस विषय में भारतीय दर्शनों का एक ही मत है कि कार्य कारण से अलग नहीं रह सकता। कारण वही है, जिसके साथ ही साथ कार्य की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाए। दीपक अब जले और उसका प्रकाश घण्टे-दो घण्टे के बाद हो, ऐसा नहीं होता। जीवन में भाव और अभाव एक ही साथ होते हैं। इधर दीपक जला, उधर तत्काल अन्धकार मिट गया, प्रकाश हो गया। प्रकाश के प्रादुर्भाव का क्षण और अन्धकार के नाश का क्षण अलग-अलग नहीं होता, चूँकि दोनों एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। जीवन में जैसे ही सत्य, अहिंसा और सदाचार का प्रादुर्भाव होता है, असत्य, हिंसा और दुराचार का विनाश भी उसी क्षण हो जाता है। अशुद्धि के मिटते ही शुद्धि की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, भारतीय आध्यात्मिक दर्शन उधार-धर्म को नहीं मानता। वह नगद-धर्म में विश्वास करता है। वह कहता है, यदि तुमने तपस्या की तो तुम्हारी शुद्धि अभी इसी क्षण प्रारम्भ हो गई। यदि हिंसा का त्याग किया तो जीवन में तत्काल अहिंसा का प्रादुर्भाव हो गया। उसके एक हाथ में कारण है, तो दूसरे हाथ में कार्य है। दूसरे हाथ का भी अन्तर क्यों? एक ही हाथ में सब कुछ है। जिस धर्म से वर्तमान जीवन में पवित्रता, निर्मलता और प्रकाश न जगमगाए, उससे सिर्फ भविष्य पर ही भरोसा रखना, अपने आप को धोखे में डालना है। भगवान् महावीर ने कहा है कि साधक को धर्म की ज्योति का प्रकाश जीवन में पग-पग पर प्राप्त करना चाहिए। जहाँ जीवन है, वहीं धर्म की ज्योति है। धर्मस्थल, घर, बाजार, कार्यालय—जहाँ कहीं भी हो, धर्म का प्रकाश वहीं पर जगमगाना चाहिए। यह नहीं चल सकता कि आपका धर्मस्थान का धर्म अलग हो और बाजार का धर्म अलग हो। धर्मस्थल की साधना अलग हो और घर की साधना अलग हो। धर्मस्थल पर चींटी को सताते भी आपका कलेजा कम्पित हो और बाजार में गरीबों का खून बहाने पर भी मन में कुछ कम्पन न हो, यह कैसी बात? महावीर का धर्म इस द्वैत को बर्दास्त नहीं करता।

धर्म का स्रोत :

भारत के धर्म-चिन्तकों ने कहा है कि यदि अन्तर् में धर्म का प्रकाश हो गया हो, तो कोई कारण नहीं कि बाहर में अन्धकार रहे। अन्तर् के आलोक में विचरण करने वाला कभी बाहर के अन्धकार में नहीं भटक सकता। धर्म का सच्चा स्वरूप यही है कि यदि अन्तर् में वह प्रकट होकर आनन्द की स्रोतस्विनी बहाता है, तो वह निश्चय ही सामाजिक, पारिवारिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं राष्ट्रिय जीवन के तटों को भी सरसब्ज बनाए। नदी का, नहर का और तालाब का तट एवं परिपार्श्व कभी भी सूखा नहीं रह सकता। वहाँ हरीभरी हरियाली की मोहक छटा छिटकती मिलेगी। यदि बाह्य और अन्तर् जीवन में फर्क है, तो इसका मतलब यही है कि बाहर और भीतर दोनों ओर दिवाला ही दिवाला है, जीवन में धर्म का देवता प्रकट हुआ ही नहीं है, सिर्फ उसका स्वाँग ही रचा गया है। वंचना और प्रतारणा मात्र है।

भय और प्रलोभन :

दुर्भाग्य यह है कि धर्म और वैराग्य के कुछ ऐसे रूप बन गए हैं कि यहाँ वही सबसे बड़ा साधक समझा जाता है, जो जीवन में सब ओर से उदासीन रहे। वह हर समय, हर क्षण मृत्यु की नाटकीय यातनाओं को सामने रखता हुआ, जीवन के प्रति बिल्कुल नीरसता का भाव बनाए रखे। उसकी वाणी पर हमेशा संसार के दुःख, पीड़ा एवं शोक की गाथाएँ ही मुखरित होती रहें। संसार के प्रति सदा ही उसका दृष्टिकोण घृणा, भय और असन्तोष से भरा रहता है। इस प्रकार उस साधक के जीवन में सदा मुर्दनी छाई रहती है। और सर्वत्र मृत्यु-ही-मृत्यु, भय-ही-भय एवं रुदन-ही-रुदन उसकी आँखों में रहते हैं। ऐसा साधक साधना के आनन्द रूप अमृत फल का रसास्वादन नहीं कर सकता। जीवन की रस धारा एवं निर्भयता का आनन्द नहीं ले सकता और न ही धर्म का स्वस्थ उल्लास ही कभी उसके मुख पर उभर सकता है।

भारतीय दर्शनों में नरक की पीड़ाओं और यातनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है, और कहा गया है कि धर्म उनसे मुक्ति दिलाता है। किन्तु यदि नरक की दारुण यातनाओं और पीड़ाओं से घबरा कर व्यक्तिगत मुक्ति पाने के लिए ही हम धर्म की शरण लेते हैं, तो यह स्थिति उस बच्चे की स्थिति के समान हुई, जो गली में कुत्ते के डर से रोता-चिल्लाता और भागता हुआ माता की गोद में आकर चिपक जाता है। बच्चे की इस दौड़ में प्रेम का रस नहीं है। वह माता-पिता की गोद में प्रेमवश नहीं गया है, बल्कि कुत्ते के भय से घबराकर गया है। यदि कुत्ते का भय नहीं होता, तो वह दिन भर गली में खेलता रहता। माता के बुलाने पर भी खेल छोड़कर नहीं आता। आज इसी बच्चे के समान हजारों साधकों की स्थिति है। वे साधक संसार के दुःखों, कष्टों और यातनाओं के भय से भागकर भगवान् और धर्म की गोद में दौड़े आ रहे हैं। भजन, ध्यान आदि का क्रम चल रहा है जरूर, किन्तु ये सब नरक आदि के दुःखरूप कुत्तों के डर से भागकर धर्म और साधना की गोद में जाने जैसी ही क्रियाएँ हैं। उनके सामने भगवान् का, धर्म का प्रेम नही है, बल्कि नरक के कुत्ते का डर है। वही एक डर उनकी आँखों में छाया हुआ है। उन्हें बस नरक के उन दुःखों और कष्टों से मुक्ति चाहिए और कुछ नहीं। किन्तु भारतवर्ष के विचारशील आचार्यों ने, सुविज्ञ मनीषियों ने कहा है कि इस प्रकार कष्टों, दुःखों और पीड़ाओं से आतंकित, भयप्रताड़ित एवं विक्षुब्ध होकर त्राण पाने की चेष्टा में धर्माराधन करनेवाला व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो भय और पीड़ाओं से संत्रस्त एवं व्याकुल होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसे मुक्ति नहीं मिल पाती। भय तो स्वयं कर्म विशेष के उदय भाव का द्योतक है। वह मोहनीय कर्म का एक अंग है। चाहे वह यहाँ वर्तमान जीवन से सम्बन्धित हो, या परलोक सम्बन्धी पीड़ाओं और दुःखों की कल्पना से उद्भूत हुआ हो, अथवा भूतकाल की यातनाओं और संकटों के स्मरण से उत्पन्न हुआ हो, भय आखिर भय है। भय की जाति एक ही है। भयगर्भित धर्म एवं दुःखजनित वैराग्य साधना के मार्ग को प्रशस्त नहीं बना सकते। इसीलिए भगवान् ने कहा है—

> **"नो इहलोगासंसप्पओगे।**
> **नो परलोगासंसप्पओगे।।"**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान जीवन की आशंसा प्रलोभन को छोड़ो और परलोक की आशंसा प्रलोभन को भी छोड़ो। दुःख और सुख, जीवन और मरण के बीच का जो समत्व का मार्ग है, उस पर बढ़ो। वही साधना का सही मार्ग है। जैन-दर्शन ने जिस प्रकार भय-प्रताड़ित भावनाओं को हेय माना है, उसी प्रकार लोभाकुल विचारों को भी निकृष्ट कोटि पर रखा है। साधना के पीछे दोनों ही नहीं होने चाहिए। स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन भी मनुष्य को दिङ्मूढ़ कर देता है। जिस प्रकार सात भय में परलोक का भय भी एक भय है, उसी प्रकार स्वर्गादि की प्राप्ति की कामना भी एक तीव्र आसक्ति है। दोनों ही मोह कर्म के उदय का फल है! इसके पीछे मनोवैज्ञानिक पहलू यह है कि जो भय एवं प्रलोभन के कारण, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक, साधना पथ पर चरण बढ़ाता है, वह प्रसंगोपात्त भय एवं प्रलोभन की उक्त भावना के हटते ही साधना पथ को छोड़कर दूर खड़ा हो जाता है। चूँकि यह निश्चित है कि जो जिस कारण से प्रेरित होकर कार्य होता है, उस कारण के हटते ही वह कार्य भी अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार साधना के पीछे सहज निष्ठा और ईमानदारी की भावना नहीं रहती, प्राणार्पण की वृत्ति नहीं रहती, बल्कि सिर्फ सामयिक एवं तात्कालिक भय-मुक्ति और सुख-लाभ की ही भावना रहती है। ऐसा व्यक्ति साधना के क्षेत्र में सतत आनंदित नहीं रह सकता। साधना का तेज और उल्लास उसके चेहरे पर दमकता नजर नहीं आता।

साधना की अग्नि में आत्मा की शुद्धि और उसकी पवित्रता एवं निर्मलता कुछ ऐसी हो कि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय जीवन में उसकी निर्मल ज्योति निखरती रहे। उसमें आनन्द एवं रस का प्रवाह बहता रहे। भारत के महान् आचार्यों ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा कि तू साधना के क्षेत्र में आया है। भगवान् का स्मरण एवं जप आदि करता है, परन्तु उसके फलस्वरूप यदि किसी प्रकार के फलविशेष की माँग उपस्थित करता है, तो इस प्रकार स्वयं ही आदान-प्रदान और प्रतिफल निश्चित करने का तुझे कोई अधिकार नहीं है। तू तो बस साधना कर। उसके लिए सिद्धि की लालसा क्यों करता है? उसके फल के प्रति क्यों आसक्त रहता है? फल की कामना से की गई साधना वास्तव में शुद्ध साधना नहीं कहलाती है। शास्त्रों में कहा है—

'सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था'[1]

भगवान् ने निष्काम साधना (अनिदान वृत्ति) की प्रशंसा की है। सच्चा भक्त भगवान की स्तुति करते हुए यही कहता है कि 'हे भगवन्! मैंने जो भी आपकी प्रार्थना एवं स्तुति की है, आपश्री के चरणों में जो भी श्रद्धा पुष्प चढ़ाए हैं, वे कोई शेर, सर्प, चोर, जल, अग्नि, व्याधि, नरक आदि दुःखों से बचने के लिए नहीं चढ़ाए हैं, बल्कि मेरे अन्तर् मानस में आपका दिव्य प्रकाश जगमगाए और मैं आपके ही स्वरूप को पा जाऊँ, बस मेरी श्रद्धांजलि इतने ही अर्थ में कृतार्थ हो जाएगी।'

यदि कोई चिलचिलाती धूप में तप रहा हो, रेगिस्तान की तन झुलसती गर्मी में जल रहा हो, और पास में कोई हरा-भरा छायादार वृक्ष खड़ा हो तो यात्री को वृक्ष से छाया एवं शीतलता प्रदान करने की प्रार्थना नहीं करनी होती। बस छाया में जाकर बैठने की आवश्यकता है। बैठते ही शीतलता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु यदि वह दूर खड़ा-खड़ा वृक्ष से छाया की केवल याचना ही करता रहे, तो वृक्ष कभी भी निकट आकर छाया नहीं देगा, ताप नहीं मिटाएगा। वृक्ष से छाया की याचना करना मूर्खता है।[2] संसार के मरुस्थल में भटकते-भटकते अनादिकाल बीत गया। शुभ-योग से कभी समय आया कि सद्गुणों का धर्ता सद्गुरु

---

१. दशाश्रुत-स्कन्ध

२. छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्।
किं छायया याचितयाऽऽत्मलाभः॥—विषापहार स्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिल गया, सद्गुणों का उपदेश मिल गया, एक तरह से कल्प वृक्ष ही मिल गया और धर्मरूप कल्पवृक्ष की शीतल छाया में आप आ गए, तो बस आपका कर्तव्य पूरा हो गया। उसकी छाया में आना आपका कर्तव्य है, इसके बाद फल प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने की जरूरत नहीं। छाया में आने का फल अपने आप प्राप्त हो जाता है। धर्म से दूर रहकर सिर्फ दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए प्रार्थना करता रहे, तो उससे कुछ मिलने का नहीं है। यदि आप धर्म की शीतल छाया में आकर बैठ गए, तो फिर आपके भव-ताप को मिटाकर शान्ति प्रदान करने की जिम्मेदारी धर्म की है। अतः धर्म की छाया में निष्काम भाव से आकर बैठने की आवश्यकता है। भय एवं प्रलोभन को, फल की आशंका को दूर कर निष्काम भाव से धर्म की पावन छाया में आसन जमाये रहो, अपने आप दुःखों से त्राण मिल जाएगा।

अन्तर का देवता :

दार्शनिक चिन्तन क्षेत्र की एक उक्ति है कि स्वर्ग के लिए प्रयत्न करने वालों को स्वर्ग नहीं मिलता। देवताओं के पीछे भटकने वाले पर देवता प्रसन्न नहीं होते। भगवान् महावीर का जन्म जिस युग में हुआ था, उस युग में लोग दुःखों से मुक्ति पाने के लिए देवी-देवताओं की मनौती करते थे, उनकी स्तुति, सेवा आदि करके उन्हें प्रसन्न करना चाहते थे। ऐसे युग में भगवान् महावीर ने साधकों को सावधान किया था, जो आँख बन्द कर देवताओं के पीछे दौड़ रहे थे। भगवान् महावीर ने कहा—'साधक देवताओं के लिए नहीं है, किन्तु देवता साधकों के लिए हैं। साधक देवता के चरणों में नहीं, अपितु देवता ही साधक के चरणों में नमस्कार करते हैं।' उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका स्पष्ट करते हुए बतलाया कि—

'देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो।'—दशवै १, १.

देवता उसे नमस्कार करते हैं, जिसका मन धर्म में अर्थात् अपने स्वरूप में रमण करता है। हम लोग देवता को बहुत बड़ी हस्ती समझ बैठे हैं, किन्तु धर्माराधक मनुष्य के सामने देवता का कोई मूल्य नहीं है। देवता तो स्वयं मनुष्य रूप में जन्म लेकर आध्यात्मिक साधना करने के लिए लालायित रहते हैं। एक नहीं, कोटि-कोटि देवता आध्यात्मिक साधक की सेवा में संलग्न रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं।

चांडाल पुत्र हरिकेश को अपने प्रारम्भिक जीवन में कितनी पीड़ाएँ और कितनी दारुण यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। परंतु धर्म में अपने मन को उतारने के बाद वही चांडाल पुत्र हरिकेश मुनि बना और साधना का तेज बढ़ने लगा, तो उसका तप-तेज इतना दीप्त और विशाल हुआ कि देवता भी उसकी चरण-धूलि लेने को पीछे-पीछे फिरने लगे। एक दिन जिसका कोई नहीं था, उसी को एक दिन देवता सादर नमस्कार करने लगे। वह शक्ति, वह साधना कहीं बाहर से नहीं आई, किन्तु उसी के अन्तरतम में छिपी दिव्य शक्ति का विकास थी वह। जब अन्तर् का देवता जग गया, उसकी अमित शक्ति के परम तेज का आलोक इधर-उधर जगमगाने लगा, तो देवता अपने आप चरणों में दौड़े आए।

जब तक प्राणी परभाव में रहता है, तब तक उसकी दृष्टि अधोमुखी होती है। वह समझ नहीं पाता कि देवता बड़ा है या मैं बड़ा हूँ। अपने जीवन को पशु की तरह गुजारता हुआ वह सदा भटकता रहता है, रोता रहता है। किन्तु जब अपना बोध होता है, अन्तर का ऐश्वर्य और तेज निखरता है, तो फिर किसी अन्य के द्वार पर जाने की जरूरत नहीं रहती। यहाँ तक कि भगवान् के द्वार पर भी भक्त नहीं जाता, बल्कि भगवान् ही भक्त के पीछे-पीछे दौड़ता है। भारतवर्ष का एक महान् साधक, जिसे हम कबीर के नाम से जानते हैं, बहुत ही अद्भुत आत्मगौरव और आत्मतेज का धनी था। उसने भक्तों से कहा है कि तुम क्यों भगवान् के पीछे पड़े हो? यदि तुम सच्चे भक्त हो, तुम्हारे पास सच्चा

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

धर्म है, धर्म के प्रति अन्तर् में वास्तविक आनन्द और उल्लास है, तो भगवान् स्वयं तुम्हारे पास आएगा।

"मन ऐसा निर्मल भया, जैसा गंगा-नीर।
पीछे-पीछे हरि फिरत, कहत कबीर-कबीर।।"

यह साधक की मस्ती का गीत है। जब मन का दर्पण निर्मल हो गया, उसमें भगवत्-स्वरूप प्रतिबिम्बित होने लगा, तो साधक को कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। साधना के दृढ़ आसन पर बैठने वाले के समक्ष संसार का समग्र वैभव, ऐश्वर्य और शासन केन्द्रित हो जाता है और तब वह अपना भगवान्, अपना स्वामी खुद हो जाता है। उसे फिर दूसरों की कोई अपेक्षा नहीं रहती।

अपना नाथ :

भगवान् महावीर के समय में अनाथ नाम से प्रसिद्ध एक मुनि हो गए हैं। वे अपने घर में विपुल वैभव और ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति थे। हर किसी को चमत्कृत कर देनेवाला विशाल वैभव, माता-पिता का अपार स्नेह, पत्नी का अनन्य प्रेम—इन सबको ठुकराकर उन्होंने साधना का मार्ग स्वीकार किया और राजगृह के शैल-शिखरों की छाया में, सुरम्य सघन वनप्रदेश में जाकर सजीव चट्टान की तरह साधना में स्थिर हो गए। एक दिन मगध सम्राट श्रेणिक ने देखा, तो उसके रूप एवं यौवन के सौन्दर्य पर सहसा मुग्ध हो गया। श्रेणिक के मन में विचार आया कि यह युवक भोग के काल में योग के, त्याग के मार्ग पर कैसे आ गया? उसने युवक मुनि से साधु बनने का कारण पूछा, तो नम्र भाव से उत्तर दिया, "राजन्! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई सहारा नहीं था। इसलिए मुनि बन गया।"

श्रेणिक ने मुनि के उत्तर को अपने भोग-प्रधान दृष्टिकोण से नापा कि युवक गरीब होगा, अतएव अभावों और कष्टों से प्रताड़ित होकर गृहस्थ जीवन से भाग आया है। राजा के मन में एक सिहरन हुई कि न जाने इस प्रकार कितने होनहार युवक अभावों से ग्रस्त होकर साधु बन जाते हैं और ये उभरती तरुणाइयाँ, जिनके जीवन का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, यों ही बर्बाद हो जाती हैं। श्रेणिक इन विचारों की उधेड़-बुन में कुछ देर खोया-खोया-सा रहा, फिर युवक मुनि की आँखों में झाँकता हुआ बोला—"यदि तुम अनाथ हो और तुम्हारा कोई सहरा नहीं है, तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को प्रस्तुत हूँ।" इस पर उस युवक साधक ने, जिसको साधना के अनन्त अमृत-सागर की कुछ बूंदों का रसास्वाद प्राप्त हो चुका था, बड़े ओजस्वी और निर्भय शब्दों में कहा—"राजन्! तुम तो स्वयं अनाथ हो, फिर मेरा नाथ बनने की बात कैसे करते हो? जो स्वयं अनाथ हो, भला वह दूसरों के जीवन का नाथ किस प्रकार हो सकता है?"

युवक साधक ने यह बहुत बड़ी बात कही थी। यह बात केवल जिह्वा से नहीं, बल्कि अन्तर्हृदय से कही गई थी। उत्तर के शब्द अन्तर् से उठकर आए थे, तभी वे इतने वजनदार और इतने सच्चे थे। राजा श्रेणिक के ज्ञानचक्षु पर फिर भी पर्दा पड़ा रहा। उसने सोचा, शायद युवक को मेरे ऐश्वर्य और वैभव का पता नहीं है, अतः थोड़ा आत्म परिचय दे देना चाहिए। राजा ने कहा—"मुझे जानते हो, मैं कौन हूँ? मैं कोई साधारण व्यक्ति नहीं हूँ। मगध का सम्राट् हूँ। मेरा विशाल वैभव एवं अपार ऐश्वर्य मगध के कण-कण में बोल रहा है।" इसके उत्तर में युवक मुनि ने कहा—"तुम मेरे भाव को अपनी भाषा में समझे, किन्तु मेरी भाषा में नहीं समझे। शब्दों के चक्कर में उलझ कर उनकी आत्मा से बहुत दूर चले गए। तुम तो मगध के ही सम्राट् हो। अतः तुम तो क्या, धरती के चक्रवर्ती और स्वर्ग के इन्द्र भी अनाथ हैं। वे भी विषय-वासना, भोग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी संसार के इन्हीं दासों में से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओं के इशारे पर क्रीतदास की तरह नाच रहे हो, तो फिर दूसरों के नाथ किस प्रकार बन सकते हो? जो स्वयं अपने विकारों के समक्ष दब जाता है, अपने आवेगों के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरों पर शासन कर सकता है? जब तुम अपने मन की गुलामी से भी छुटकारा नहीं पा सकते, तो संसार के इन क्षणभंगुर तुच्छ वैभव और ऐश्वर्य की महत्ता की क्या बात करते हो? जिसके भरोसे तुम दूसरों के नाथ बनना चाहते हो। यह भौतिक-वैभव तो मेरे पास भी कुछ कम न था। पर, यह नश्वर था, इसलिए छोड़ आया हूँ।

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह संवाद जीवन-विजय का संवाद है। यह संवाद साधना की उस स्थिति पर पहुँचाता है, जहाँ भक्त को भगवान् के पीछे दौड़ने की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जहाँ वह होता है, वहीं अन्तर् में भगवान् उतर आते हैं। अनाथ मुनि की वाणी में वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा बोल रही थी। उन्होंने जो संदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नहीं, महावीर का ही संदेश था। महावीर की आत्मा स्वयं उसके अन्तर् में जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का संस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अंग-अंग में, सांस-सांस में प्रकाशित होने लग जाए। उसके संस्कारों का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। एक सूफी शायर ने ऐसी ही चरम दशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है—

"शहरे तन के सारे दर्वाजों पे हो गर रोशनी।
तो समझना चाहिए वहाँ हुकूमत इल्म की॥"

इस शरीर रूपी शहर के हर गली-कूचे और दरवाजों पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो, तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहाँ का स्वामी स्वयं घर में है और वह पूरे होश में है। उस शहर पर कोई हमला नहीं कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ बन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन में धर्म का स्रोत प्रतिक्षण पद-पद पर बहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण बना रहे। जीवन में धर्म का सामंजस्य होने के बाद, साधक को अन्यत्र कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं। मुक्ति के लिए भी कहीं दूर जाना नहीं है, अपितु अन्दर की परतों को भेद कर अन्दर में ही उसे पाना है।

धर्म और ध्यान :

साधना, जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं, जो वृत्तियों के दमन से या शमन से सम्बन्धित न होकर क्षपण से सम्बन्धित है, अतः वह क्षायिक साधना है। प्रश्न है, उसका मूल आधार क्या है? वह कैसे एवं किस रूप में की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है, वह शब्द है—'ध्यान।' महावीर की साधना का आन्तरिक मार्ग यही था। ध्यान के मार्ग से ही वे आत्मा की गहराई में अनादि-काल से दबे आ रहे अपने अनन्त ईश्वरत्व को प्रगट कर सकें, विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता तक पहुँच सकें। आध्यात्मिक साधना का अर्थ ही ध्यान है।

वस्तुतः ध्यान से ही आध्यात्मिक तथ्य की वास्तविकता का बोध होता है। ध्यान जीवन की बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करता है, चैतन्य की अन्तर्निहित अनन्त क्षमता का उद्घाटन करता है। ध्यान आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णता का विस्फोट है, जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की समग्र सत्ता का एक वास्तविक जागरण है। ध्यान हमारी अशुद्ध शक्तियों का शोधन करता है। ध्यान के द्वारा ही चेतना की अशुभ धारा शुभ में रूपान्तरित होती है, शास्त्र की भाषा में कहें, तो चेतना की शुभाशुभ समग्र धारा शुद्ध में रूपायित हो जाती है। प्रकाश में जैसे अन्धकार विनष्ट हो जाता है, वैसे ही ध्यान की ज्योति में विकृतियाँ सर्वतो भावन समाप्त हो जाती हैं। विकृतियों का तभी तक शोरगुल रहता है, जब तक कि चेतना सुप्त है। चेतना की जागृति में आध्यात्मिक सत्ता का अथ से इति तक संपूर्ण कायाकल्प ही हो जाता है, फलतः अन्तरात्मा में एक अद्भुत नीरव एवं अखण्ड शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगती है। चेतना के वास्तविक जागरण में कोई न तनाव रहता है, न पीड़ा, न दुःख, न द्वन्द्व। जिसे हम मन की आकुलता कहते हैं, चित्त की व्यग्रता कहते हैं, उसका तो कहीं अस्तित्व तक नहीं रहता। ध्यान चेतना के जागरण का अमोघ हेतु है। हेतु क्या, एक तरह से यह जागरण ही तो स्वयं ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है— अपने को देखना, अन्तर्मुख होकर तटस्थ भाव से अपनी स्थिति का सही निरीक्षण करना। सुख-दुःख की, मान-अपमान की, हानि-लाभ की, जीवन-मरण की जो भी शुभाशुभ घटना हो रही है, उसे केवल देखिए। राग-द्वेष से परे होकर तटस्थ भाव से देखिए। केवल देखना भर है, देखने के सिवा और कुछ नहीं करना है। बस, यही ध्यान है। शुभाशुभ का तटस्थ दर्शन, शुद्ध 'स्व' का तटस्थ निरीक्षण! चेतना का बाहर से अन्दर में प्रवेश! अन्दर में लीनता!

सर्वप्रथम स्थान—शरीर की स्थिरता, फिर मौन—वाणी की स्थिरता, और फिर ध्यान—अन्तर्मन की स्थिरता। आज भी हम कायोत्सर्ग की स्थिति में ध्यान करते समय यही कहते हैं—**'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।'** महावीर के ध्यान का यही क्रम था। और, इस प्रकार तप करते-करते महावीर का ध्यान हो जाता था, अथवा यों कहिए कि ध्यान करते-करते, अन्तर्लीन होते-होते तप हो जाता था। यदि स्पष्टता के साथ वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जाए, तो ध्यान स्वयं तप है। स्वयं भगवान् की भाषा में अनशन आदि तप बाह्य तप हैं। इनका सम्बन्ध शरीर से अधिक है। शरीर की भूख-प्यास आदि को पहल निमंत्रण देना और फिर उसे सहना, यह बाह्य तप की प्रक्रिया है। और ध्यान अन्तरंग तप है, अन्तरंग अर्थात् अन्दर का तप, मन का तप, भाव का तप, स्व का स्व में उतरना, स्व का स्व में लीन होना। महावीर की यह आत्माभिमुख ध्यान-साधना धीरे-धीरे सहज होती गई, अर्थात् अन्तर्लीनता बढ़ती गई। विकल्प कम होते गए, चंचलता-उद्विग्नता कम होती गई और इस प्रकार धीरे-धीरे निर्विकल्पता, उदासीनता, अनाकुलता, वीतरागता विकसित होती गई। ध्यान सहज होता गया, हर क्षण, हर स्थिति में होता गया। महावीर के जीवन में आकुलता के, पीड़ा के, द्वन्द्व के एक-से-एक भीषण प्रसंग आए। किन्तु महावीर अनाकुल रहे, निर्द्वन्द्व रहे। महावीर ध्यानयोगी थे, अतएव वे हर अच्छी-बुरी घटना के तटस्थ दर्शक बन कर रह सकते थे। इसीलिए अपमान-तिरस्कार के कड़वे प्रसंगों में, और सम्मान-सत्कार के मधुर क्षणों में उनकी अन्तश्चेतना सम रही, तटस्थ रही, वीतराग रही। वे आने वाली या होने वाली हर स्थिति के केवल द्रष्टा रहे, न कर्ता रहे और न भोक्ता। हम बाहर में उन्हें अवश्य कर्त्ता-भोक्ता देखते हैं। किन्तु देखना तो यह है कि वे अन्दर में क्या थे? सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता विकल्पात्मक स्थिति में होता है। केवल द्रष्टा ही है, जो शुद्ध निर्विकल्पात्मक ज्ञान-चेतना का प्रकाश प्राप्त करता है।

धर्म, दर्शन और अध्यात्म :

धर्म, दर्शन और अध्यात्म का प्रायः समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है, किन्तु गहराई से विचार करें तो इन तीनों का मूल अर्थ भिन्न है। अर्थ ही नहीं, क्षेत्र भी भिन्न है।

धर्म का सम्बन्ध आचार से है। **'आचारः प्रथमो धर्मः।'** यह ठीक है कि बहुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहले धर्म का सम्बन्ध अन्दर और बाहर दोनों प्रकार के आचारों से था। और इस प्रकार अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था। इसीलिए प्राचीन जैन-ग्रन्थों में धर्म के दो रूप बताए गए हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय अन्दर में 'स्व' की शुद्धानुभूति एवं शुद्धोपलब्धि है, जबकि व्यवहार बाह्य क्रियाकाण्ड है, बाह्याचार का विधि-निषेध है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है, वह देशकाल की बदलती हुई परिस्थितियों से भिन्न होता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक होता है। व्यवहार, चूंकि बाह्य आचार-विचार पर आधारित है, अतः वह देशकाल के अनुसार बदलता रहता है, शाश्वत एवं सार्वत्रिक नहीं होता। दिनांक तो नहीं बताया जा सकता, परन्तु काफी समय से धर्म अपनी अन्तर्मुख स्थिति से दूर हटकर बहिर्मुख स्थिति में आ गया है। आज धर्म का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों का बाह्याचार सम्बन्धी विधि-निषेध ही रह गया है। धर्म की व्याख्या करते समय प्रायः हर मत और पन्थ के लोग अपने परंपरागत विधि-निषेध सम्बन्धी क्रियाकाण्डों को ही उपस्थित करते हैं और उन्हीं के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हैं। इसका यह अर्थ है कि धर्म अपने व्यापक अर्थ को खोकर केवल एक क्षरणशील संकुचित अर्थ में आबद्ध हो गया है। अतः आज का मानस, धर्म से अभिप्राय, मत-पंथों के अमुक बँधे-बंधाये आचार-विचार से लेता है, अन्य कुछ नहीं।

दर्शन का अर्थ तत्त्वों की मीमांसा एवं विवेचना है। दर्शन का क्षेत्र है—सत्य का परीक्षण। जीव और जगत् एक गूढ़ पहेली है, इस पहेली को सुलझाना ही दर्शन का कार्य है। दर्शन प्रकृति और पुरुष, लोक और परलोक, आत्मा और परमात्मा, दृष्ट और अदृष्ट आदि रहस्यों का उद्घाटन करने वाला है। वह सत्य और तथ्य का सही मूल्यांकन करता है। दर्शन ही वह दिव्यचक्षु है, जो इधर-उधर की नई-पुरानी मान्यताओं के सघन आवरणों को भेदकर सत्य के मूलरूप का साक्षात्कार कराता है। दर्शन के बिना धर्म अन्धा है। और यह अन्धा गन्तव्य पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे? पथ के टेढ़े-मेढ़े घुमाव, गहरे गर्त और आस-पास के खतरनाक झाड़-झंखाड़ बीच में ही कहीं अन्धे यात्री को निगल सकते हैं।

अध्यात्म, जो बहुत प्राचीन काल में धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था, जीवन-विशुद्धि का सर्वांगीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार को खोजता है, उसका परिशोधन एवं परिष्कार करता है। 'स्व' जो कि 'स्वयं' से विस्मृत है, अध्यात्म इस विस्मरण को तोड़ता है। 'स्व', स्वयं ही जो अपने 'स्व' के अज्ञान तमस् का शरण-स्थल बन गया है, अध्यात्म इस अन्धतमस् को ध्वस्त करता है, स्वरूप स्मृति की दिव्य ज्योति जलाता है। अध्यात्म अन्दर में सोये हुए ईश्वरत्व को जगाता है, उसे प्रकाश में लाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के आवरणों की गन्दी परतों को हटाकर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व' तक पहुँचाता है, उसे अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का आरम्भ 'स्व' को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा से होता है, और अन्ततः 'स्व' के पूर्ण बोध में, 'स्व' की पूर्ण उपलब्धि में इसकी परिसमाप्ति है।

अध्यात्म किसी विशिष्ट पंथ या संप्रदाय की मान्यताओं में विवेक-शून्य अंध-विश्वास और उनका अन्ध-अनुपालन नहीं है। दो-चार-पाँच परम्परागत नीति-नियमों का पालन अध्यात्म नहीं है, क्योंकि यह अमुक क्रियाकाण्डों की, अमुक विधि-निषेधों की कोई प्रदर्शनी नहीं है और न यह कोई देश, धर्म और समाज की देश कालानुसार बदलती रहने वाली व्यवस्था का ही कोई रूप है। यह तो एक आन्तरिक प्रयोग है, जो जीवन को सच्चे एवं अविनाशी सहज आनन्द से भर देता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवन को शुभाशुभ के बन्धनों से मुक्त कर देती है, 'स्व' की शक्ति को विघटित होने से बचाती है। अध्यात्म, जीवन की अशुभ स्थिति को शुद्ध स्थिति में रूपान्तरित करने वाला अमोघ रसायन है, अतः यह अन्तर् की प्रसुप्त विशुद्ध शक्तियों को प्रबुद्ध करने का एक सफल आयाम है। अध्यात्म का उद्देश्य, नैतिकता औचित्य की स्थापना मात्र नहीं है, प्रत्युत शश्वत एवं शुद्ध जीवन के अनन्त सत्य को प्रकट करना है। अध्यात्म कोरा स्वप्निल आदर्श नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यह तो जीवन का वह जीता-जागता यथार्थ है, जो 'स्व' को 'स्व' पर केन्द्रित करने का, निज को निज में समाहित करने का पथ प्रशस्त करता है।

अध्यात्म को, धर्म से अलग स्थिति इसलिए दी गई है कि आज का धर्म कोरा व्यवहार बन कर रह गया है, बाह्याचार के जंगल में भटक गया है; जबकि अध्यात्म अब भी अपने निश्चय के अर्थ पर समारूढ़ है। व्यवहार बहिर्मुख होता है और निश्चय अन्तर्मुख। अन्तर्मुख अर्थात् स्वाभिमुख। अध्यात्म का सर्वेसर्वा 'स्व' है, चैतन्य है। परम चैतन्य के शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति और प्राप्ति ही अध्यात्म का मूल उद्देश्य है। अतएव अध्यात्म जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भावात्मक स्थिति है, निषेधात्मक नहीं। यदि संक्षिप्त रूप में कहा जाए, तो अध्यात्म जीवन के स्थायी मूल्य की ओर दिशासूचन करने वाला वह आयाम है, जो किसी वर्ग, वर्ण, जाति और देश की भेदवृत्ति के बिना, एक अखण्ड एवं अविभाज्य सत्य पर प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अध्यात्म मानव-मात्र की अन्तश्चित् शक्ति रूप महासत्य का अनुसन्धान करने वाला वह मुक्तद्वार है, जो सबके लिए सदा और सर्वत्र खुला है। अपेक्षा सिर्फ मुक्त भाव से प्रवेश करने की है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org